



हर्ष भोगले

पूरी दुनिया में – और भारत में भी – दो प्रकार के खेल प्रेमी हैं; एक, जो खेलते हैं और दूसरे, जो खेल देखते हैं। पूरी दुनिया में शहरी समुदायों की प्रकृति को देखते हुए स्वाभाविक है कि खेलने वालों की संख्या के मुकाबले खेल देखने वालों की संख्या बहुत ज्यादा होती है। लेकिन मुझे डर है कि दुनिया के दूसरे हिस्सों के मुकाबले हमारे यहाँ यह बात और भी अधिक सच्ची है, और खिलाड़ियों के अनुपात में खेल देखने वालों की संख्या काफी अधिक है। ऐसा दो कारणों से है – एक, शहरी भारत में जबरदस्त भीड़ की स्थिति तथा इससे उपजी खुली जगह की कमी; दूसरा, वह असाधारण महत्व जो स्कूली शिक्षा के अन्त में मिलने वाले अंकों को दिया जाता है। इन हालात के निहितार्थ स्टाइल से जुड़े उद्योग के लिए भी हैं क्योंकि खिलाड़ियों जैसा दिखने की चाहत वाले लोगों की संख्या खेलने की चाहत वाले लोगों की संख्या के मुकाबले बहुत अधिक होगी। शहरी खिलाड़ियों की अपेक्षाकृत कम संख्या को देखकर निराशा होती है क्योंकि टीम-वर्क के महत्व को, या दूसरे शब्दों में कहें तो इसके अभाव को, समझने के लिए कोई टीम वाला खेल खेलने से बेहतर कोई तरीका नहीं है। कभी-कभार बदलाव की छोटी-सी किरण तब दिखाई देती है जब दिल से जवान लोग माता-पिता बनते हैं लेकिन बहुत ही जल्दी वे भी कक्षाओं और अंकों के उस चक्र में फँस जाते हैं जो आज भी भारत में सफलता का एकमात्र निर्धारक है। इसीलिए खेल दूर से देखने वाला तमाशा बने रहते हैं न कि आनन्द लेने वाली गतिविधि। शहरी भारत में खेल की दो प्रमुख सीमाएँ हैं – समय की कमी और खेलने के लिए जगह की कमी। कोई भी खेल खेलना हो तो आपको हारना, सीखना और सफल होना होता है; उपेक्षा का सामना करना और संघर्ष करना पड़ता

शहरी भारत में खेल की दो प्रमुख सीमाएँ हैं – समय की कमी और खेलने के लिए जगह की कमी। कोई भी खेल खेलना हो तो आपको हारना, सीखना और सफल होना होता है; उपेक्षा का सामना करना और संघर्ष करना पड़ता है, अवसरों का लाभ उठाना होता है।

है, अवसरों का लाभ उठाना होता है। आपको समय चाहिए होता है। भारतीय शहरों में ट्रैफिक जाम की स्थिति और यातायात के बदहाल बुनियादी ढाँचों के चलते खेलों में भाग



लेना हो तो बहुत समय लगाना पड़ता है, बल्कि यह लोगों के लिए खेलों से दूर रहने का एक बड़ा कारण और बहाना बन जाता है। फिर जगह तो कम है ही। मुम्बई में तो हम मजाक करते हैं कि फुटबॉल के मैदान के बराबर जगह तो दूर, बस 22 गज जमीन भी उपलब्ध हो तो कोई राजनेता या बिल्डर इस पर भी बहुमंजिला इमारत बना देगा। इससे लगता है कि छोटे शहरों में, जहाँ समय और जगह के साथ इतनी बेदर्दी नहीं की जाती, खेलों के फलने-फूलने की अधिक गुंजाइश होगी। अचरज नहीं होता कि भारतीय खिलाड़ियों की अगली पीढ़ी यहीं से आ रही है। अगर नई पीढ़ी के नेता भी वहीं से उभरें तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होगा। शहरी खेल दो पारम्परिक दुश्मनों के आक्रमण से जूझ रहे हैं – एक ओर तो 10वीं कक्षा का हौआ और कोचिंग क्लास, और दूसरी ओर सामाजिक मीडिया। मेरा मानना है कि हमारा समाज, जिसका प्रतिनिधित्व माता-पिता और स्कूली शिक्षक करते हैं, बारह या तेरह वर्ष की आयु तक के बच्चों के खेलने से खुश रहता है। बल्कि इस उम्र तक तो वे “कोचिंग” और खेल के सामान पर बहुत ज्यादा खर्च भी कर लेंगे। लेकिन जैसे ही बोर्ड परीक्षा का साल शुरू होता है, उनका नजरिया बदल जाता है। तब बच्चों के लिए दिन में स्कूल और शाम में कोचिंग जाना अनिवार्य सा हो जाता है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि स्कूलों में अगर पढ़ाई ठीक से करवाई जाए तो बच्चों के लिए शाम का वक्त खाली रह

सकता है, जबकि अभी यह वक्त वह पढ़ने-सीखने में बीतता है, जो वे स्कूल में नहीं सीख-समझ पाए। मगर सच तो यही है कि ज्यादा अंक पाने की दौड़ में इन दो अनिवार्य गतिविधियों के बीच खेलकूद के लिए समय का अभाव ही रहता है। कुछ स्कूल तो जैसे गर्व से घोषणा करते हैं कि आने वाले वर्ष में बच्चों के पास किसी और चीज के लिए समय नहीं होगा-स्कूल न हुए, शिक्षा के जेलखाने हो गए! शायद इसीलिए शहरी भारत में सपने जल्दी ही मर जाते हैं। जो खेलकूद में आगे बढ़ना चाहते हैं उन्हें 'कम अंकों' वाली जिन्दगी जीने का दण्ड मिलता है (और जिस व्यवस्था में अंक दीवाली के उपहारों की तरह दिए जाते हों, वहाँ तो 'कम' को तुलनात्मक दृष्टि से ही देखना होगा)। अगर परीक्षाएँ 'पढ़ो और उगल दो' (या सामाजिक रूप से अधिक स्वीकार्य भाषा में कहें, तो 'पढ़ो और पुनः प्रस्तुत करो') वाली पद्धति पर न होती तो स्थितियाँ शायद अलग हो सकती थीं। इसके साथ ही दूसरा पहलू सामाजिक मीडिया में आई क्रान्ति का है। आपका दोस्त अब केवल एक क्लिक की दूरी पर है और यह क्लिक चौबीसों घण्टे उपलब्ध है। शारीरिक गतिविधि का अर्थ अब शायद अपने शरीर के वजन को एक कोहनी से दूसरी कोहनी पर डालने तक ही सीमित हो गया है क्योंकि युवा और युवतियाँ अपने लैपटॉप के सामने पसरे रहते हैं। तेंदुलकर और मेस्सी को देखना और उनके बारे में चर्चा करना यकीनन उनकी तरह पसीना बहाने से कहीं आसान है। हाँ, बढ़ते हुए सामाजिक सम्पर्क और अच्छा दिखने की बढ़ती जरूरत के चलते एक गतिविधि जरूर लोकप्रिय हो रही है - युवा लड़के और लड़कियाँ अब जिम में अधिक दिखाई देने लगे हैं! उम्मीद है कि इसका एकमात्र कारण दिखावा, एक तरह का घमण्ड, और उसके नतीजे में एक खास अन्दाज में दिखने की जरूरत ही नहीं होगा! अगर जवान लड़के-लड़कियाँ अपनी जिन्दगी को अलग-अलग खानों में बाँटना सीख लें; जो भी करें उसे 100 प्रतिशत प्रतिबद्धता से करें; और एक गतिविधि को दूसरी के आड़े न आने दें, तो कुछ अलग हो पाना सम्भव है। जो वास्तव में व्यवस्थित हैं वे खेलते समय पढ़ाई के बारे में नहीं सोचेंगे और जब पढ़ रहे होंगे तो उन्हें खेलकूद का ख्याल तक नहीं आएगा। जब समय की माँग बहुत हो, तो इसका दुरुपयोग किसी अपराध से कम नहीं होता। खेलकूद को प्रोत्साहित करने में एक स्कूल अच्छी भूमिका निभा सकता है और वाकई कुछ स्कूल ऐसा करते भी हैं। अक्सर किशोर-मन के रथ का सारथी शिक्षक होता है और

इस संसाधन का बेहतर उपयोग स्कूलों में होना जरूरी है। अगर शिक्षक युवा मस्तिष्क के विकास में खेलों की शक्ति को समझता है तो वह अपने बच्चों को खेलने के लिए प्रेरित कर सकता है। खेलकूद एक बहुत ही शानदार ढंग से आविष्कारी हो सकते हैं और अच्छे शिक्षक जो जगह मौजूद है, उसका उपयोग करना सीख सकते हैं या नई जगह निकाल सकते हैं। उदाहरण के लिए टेबल टेनिस के लिए अधिक जगह की जरूरत नहीं है और वॉलीबॉल भी महँगे उपकरणों की माँग नहीं करता। यह एक कमाल का, उत्साहित करने वाला खेल है। बास्केटबॉल टीमवर्क की माँग करने वाला उच्च स्तर का कसरती खेल है। लेकिन छात्रों को प्रोत्साहित करना बहुत जरूरी है; शायद स्टार एथलीट और गणित का जादूगर एक टीम बना सकते हैं; स्टार एथलीट दूसरे को दौड़ना और कूदना सिखा सकता है तो दूसरा त्रिकोणमिति के गुर समझने में उसकी मदद कर सकता है!

जीवन के शुरुआती दौर में टीम के प्रति प्रेम विकसित किया जाना महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह भी निर्धारित होता है कि आप अन्य सब काम कैसे करेंगे। किसी दिन आप पास होते हैं और किसी दिन अच्छा स्कोर करते हैं, और दोनों ही बार आप हीरो होते हैं; या दूसरे दिन आप केवल 5 रन बनाते हैं लेकिन बेहतर बल्लेबाज को 50 रन बनाने में मदद करते हैं। एक-दूसरे के लिए कुछ करना, टीम के लिए खेलना, ऐसी बातें हैं जिनके लिए पूरा भारत चिन्तित है, लेकिन हमारे स्कूल और अंकों की दौड़ तथा "ट्यूशन" की व्यवस्था स्वार्थ की भावना को बढ़ावा देते हैं। आप ट्यूशन-टीचर को रखते हैं लेकिन किसी को नहीं बताते; आपको कोई नई, मजेदार पाठ्यपुस्तक मिलती है लेकिन किसी को नहीं बताते; हम हर चीज को दर्जा देते हैं और इसलिए व्यक्तिगत तौर पर अब्बल रहने के पीछे भागते हैं। समुदाय ही है जो पहले खेलकूद का बीज बोता है - यह बात पूरी दुनिया में देखी गई है। सार्वजनिक कोर्ट, टेबल और मैदान शुरुआती बिन्दु हैं। राज्य से यह अपेक्षा रखना तो शायद ज्यादाती ही होगी कि वह इस सन्दर्भ में कुछ करे, खासतौर से तब जब खेल मन्त्रालय को अक्सर दण्ड वाली पोस्टिंग माना जाता हो। लेकिन मुझे भरोसा है कि कारपोरेट घरानों को योगदान देने के लिए टटोला जा सकता है। जमीनी स्तर पर कारपोरेट घरानों द्वारा सक्रिय तौर पर इस प्रक्रिया में शामिल होने के कुछ उदाहरण अब देखने को मिल रहे हैं, और आशा है कि और अधिक लोग आई.एम.जी.-रिलायंस मॉडल

का अनुसरण करेंगे, जिसमें मार्केटिंग और किसी खेल के बीजारोपण की जिम्मेदारी किसी सरकारी विभाग की जगह एक कॉरपोरेट घराने द्वारा निभाई जाती है। इससे शायद शासन का एक अलग, अधिक समावेशी रूप सामने आए। लेकिन जब तक शहरी समाज अपने नागरिकों को समय और जगह से वंचित रखेंगे, जब तक अंकों को योग्यता

का एकमात्र निर्धारक मानने का पागलपन जारी रहेगा, तब तक खेल आनन्ददायक गतिविधि के बजाय दूर से देखने लायक तमाशा बने रहेंगे। खेलना एक असीमित दुनिया के द्वार खोलता है और इसके सम्पर्क में आने के लिए स्कूल का समय सबसे बढ़िया समय है।

हर्ष भोगले 'भारतीय क्रिकेट की आवाज' के रूप में जाने जाते हैं। वे आई.आई.एम., अहमदाबाद के छात्र रहे हैं और हैदराबाद से इंजिनियरिंग के स्नातक हैं। वे भारत के अग्रणी क्रिकेट कमेंटेटर और स्तम्भकार हैं। लोग उनकी पैनी दृष्टि वाली टिप्पणियाँ खूब पसन्द करते हैं। समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में लिखने के अलावा उन्होंने कुछ किताबें भी लिखी हैं। अब वे कॉरपोरेट व्याख्यान भी देते हैं जिनमें वह कारोबारी नीतियों के विकास के लिए खेल से पाए अनुभव का उपयोग करते हैं।